

॥ ऐतरेयोपनिषद् ॥

ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यक के दूसरे आरण्यक के चौथे, पाँचवें एवं छठवें अध्याय ब्रह्मविद्या प्रधान हैं, अस्तु, इन्हें ऐतरेयोपनिषद् की मान्यता दी गयी है। प्रथम अध्याय में तीन खण्ड हैं तथा शेष (दूसरे, तीसरे) अध्यायों में एक-एक खण्ड ही हैं।

प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड में परमात्मा द्वारा सृष्टि रचना का संकल्प तथा लोकों-लोकपालों की रचना का प्रसंग है। हिरण्यगर्भ से विराट् पुरुष एवं उसकी इन्द्रियों से देवताओं की उत्पत्ति दर्शायी गयी है। दूसरे खण्ड में देवताओं के लिए आवास रूप मनुष्य शरीर तथा क्षुधा-पिपासा की शान्ति हेतु अन्नरस की रचना का प्रसंग है। तीसरे खण्ड में प्राणों द्वारा अन्न को ग्रहण करने के उपाख्यान के साथ स्वयं परमात्मा द्वारा मूर्धा मार्ग से प्रवेश करने का प्रकरण दिया गया है। व्यक्ति रूप में उत्पन्न पुरुष की जिज्ञासा और परमात्म तत्त्व के साक्षात्कार से उसके कृतकृत्य होने का भी उल्लेख है। दूसरे अध्याय में ऋषि वामदेव द्वारा जीवन चक्र का अनुभव प्राप्त करने का वर्णन है। माता के गर्भ में जीव प्रवेश उसका प्रथम जन्म, बालक रूप में बाहर आना द्वितीय जन्म तथा मरणोत्तर योनियों में जाना तीसरा जन्म कहा गया है। तीसरे अध्याय में उपास्य कौन है, यह प्रश्न खड़ा करके प्रज्ञान रूप परमात्मा को ही उपास्य सिद्ध किया गया है। उसे प्राप्त करके काया त्याग के बाद परमधाम अमरपद प्राप्ति का निरूपण किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः
श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु
तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्ताग्भवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। (हे परमात्मन्!) आप मेरे समक्ष प्रकट हों। मेरे लिए वेद का ज्ञान लाएँ (प्रकट करें)। मैं पूर्वश्रुत ज्ञान को विस्मृत न करूँ। इस स्वाध्यायशील प्रवृत्ति से मैं दिन और रात्रियों को एक कर दूँ (मेरा स्वाध्याय सतत चलता रहे)। मैं सदैव ऋत और सत्य बोलूँगा। ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह (ब्रह्म) वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे। त्रिविध ताप शान्त हों।

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

इस उपनिषद् में ब्रह्म से लोकों, लोकपालों सहित मानवी सृष्टि, उसके विकास तथा मोक्ष सहित विराट् जीवन चक्र का उल्लेख है। ऋषि ने हर चरण को स्पष्ट एवं सरल ढंग से व्यक्त किया है। आवश्यकतानुसार अव्यक्त भावों को पाद टिप्पणियों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है-

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥ १ ॥

सृष्टि के आरम्भ में एक मात्र आत्मा (परमात्म तत्त्व) ही था, उसके अतिरिक्त और कुछ भी सचेष्ट न था। (तब) उस (परमात्मा) ने विचार किया कि 'मैं लोकों का सृजन करूँ' ॥ १ ॥

⊙ अड्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित दशोपनिषद् (१९३५) संग्रह के ऐतरेयोपनिषद् में प्रारम्भिक तीन अध्याय और प्रकाशित हैं, जिनका समावेश अन्य किसी उपनिषत्संग्रह में न होने से यहाँ भी नहीं ग्रहण किया गया है।

[मंत्र में 'नान्यत् किञ्चन मिषत्' वाक्य है, मिषत् शब्द पलक हिलाने के भाव में भी प्रयुक्त होता है, जो सबसे कम प्रयास में होने वाली दृश्य चेष्टा है। इसलिए पद का भाव यही लेना उचित है कि अन्य कुछ भी नहीं था तथा जो था वह किञ्चित् भी सचेष्ट नहीं था। पहली चेष्टा उस ब्रह्म के संकल्प के रूप में ही हुई।]

स इमाँल्लोकानसृजत अम्भो मरीचीर्मरमापोऽ दोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः । पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥ २ ॥

उस (परमात्मा) ने अम्भ, मरीचि, मर और आपः लोकों की रचना की। द्युलोक से परे और स्वर्ग की प्रतिष्ठा वाले लोकों को अम्भ अन्तरिक्ष (प्रकाश लोक) को मरीचि, पृथिवीलोक को मर्त्यलोक और पृथिवी के नीचे (परे) आपः लोक है ॥ २ ॥

[यहाँ लोकों के नाम और उनकी स्थितियाँ विचारणीय हैं। पृथ्वी को 'मर' मृत्युलोक कहा ही जाता है। अन्तरिक्ष मरीचि अर्थात् प्रकाश किरणों से युक्त लोक मान्य है। मरीचि का अर्थ शब्द कल्पद्रुम के अनुसार पापों, क्षुद्र जीवों या तमस् को मारने वाला कहा गया है। अन्तरिक्ष में ऐसे तेजस्वी मारक प्रवाह होने की पुष्टि वर्तमान विज्ञान भी करता है। अम्भ=अम् (प्राण) तथा भः (भरणकर्ता) से बना है। द्युलोक से परे यह अव्यक्त रूप से सूक्ष्म प्राण का भरण करने वाला लोक है, जिसकी प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा के रूप में द्युलोक है। पृथ्वी के नीचे आपः लोक का भाव अनेक आचार्यों ने माना है। जो अधिक उचित प्रतीत नहीं होता।]

वस्तुतः ऋग्वेद ने आपः को सृष्टि के मूल क्रियाशील प्रवाह के रूप में व्यक्त किया है। आपः सृष्टि का आधारभूत द्रव्य है, इसलिए ऋषि ने उसे 'या अधस्तात् ता आपः' जो आधाररूप है वह आपः है, ऐसा कहा है। वही हिरण्यगर्भ रूप है, जिसे वेद ने 'स दाधार पृथिवी द्यामृतेमां' (पृथ्वी और द्युलोक का आधार वही है) कहा है। आपः जल को भी कहते हैं; किन्तु वह अर्थ लेने से मंत्र का भाव सिद्ध नहीं होता। अस्तु, आपः को वेद की अवधारणा के आधार पर ही स्वीकार करना उचित है। इसे 'ताः' स्त्रीलिंग बहुवचन का संबोधन दिया गया है। इसी आपः तत्त्व के गर्भ में ब्रह्म का संकल्प बीज रूप में एककर विश्वरूप बनता है, यह गुण मातृसत्ता का होने से आपः को 'देवी आपः' या 'ताः आपः' कहना उचित है। इस उपनिषद् में भी अगले मंत्रों में आपः का उत्पादक प्रयोग बार-बार परिलक्षित होता है।]

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति । सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥

(लोकों का निर्माण करने के बाद) उसने विचार किया कि लोकों का निर्माण तो हो गया, अब मुझे लोकपालों की भी रचना करनी चाहिए। ऐसा चिन्तन करके उसने आपः (तरल प्रवाह) में से ही एक पुरुष को समुद्धृत करके (निकालकर) उसे मूर्तिमान् बनाया ॥ ३ ॥

[पुरुष संबोधन सृजनात्मक पुरुषार्थ करने में समर्थ के लिए प्रयुक्त होता है। ब्रह्म ने उस मूल प्रवाह में से विराट् पुरुष को मूर्तरूप दिया अर्थात् विराट् संरचना की सामर्थ्य को जाग्रत् किया। ऋषि ने उसे 'अद्भ्य एव समुद्धृत्य' कहा है। अद्भ्यः का सीधा अर्थ जल होता है; किन्तु यहाँ भी उसका प्रयोग (आपः) विश्व सृजनशील प्रवाह ही है।]

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः । प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्रं निरभिद्यत शिश्राद्रेतो रेतस आपः ॥ ४ ॥

उस विराट् पुरुष को देखकर ईश्वर ने सङ्कल्पपूर्वक तप किया। उस तप के प्रभाव से (उस हिरण्यगर्भ स्वरूप) पुरुष के शरीर से सर्वप्रथम अण्डे की तरह एक मुख छिद्र प्रकट हुआ। मुख से वाक् इन्द्रिय और

वाक् से अग्नि प्रकट हुई। (तदुपरान्त) नाक के छिद्र प्रकट हुए। नाक के छिद्रों से प्राण और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ। (फिर) नेत्र उत्पन्न हुए। नेत्रों से चक्षु (अर्थात् देखने की शक्ति) और चक्षु से आदित्य प्रकट हुआ। (तत्पश्चात्) कान प्रकट हुए, कानों से श्रोत्र (श्रवण की शक्ति) और श्रोत्रों से दिशाओं का प्रादुर्भाव हुआ। (फिर) त्वचा प्रकट हुई, त्वचा से रोम और रोमों से वनस्पति रूप ओषधियों का प्राकट्य हुआ। (इसके अनन्तर) हृदय, हृदय से मन, मन से चन्द्रमा उदित हुआ। तदुपरान्त नाभि, नाभि से अपान और अपान से मृत्यु प्रादुर्भूत हुई। (फिर) जननेन्द्रिय, जननेन्द्रिय से वीर्य और वीर्य से आपः (जल या सृजनशीलता) की उत्पत्ति हुई ॥ ४ ॥

[यहाँ वीर्य से पुनः 'आपः' की उत्पत्ति कही गयी है। यह बड़ा वैज्ञानिक-मार्मिक कथन है। आपः सृष्टि कर्त्ता आधारभूत प्रवाह है। वीर्य में ही पुनः सृष्टि करने में समर्थ 'बीज' तैयार होता है। वीर्य उस सूक्ष्म आपः प्रवाह के चक्र को पुनः प्रयुक्त करने में सक्षम है-ऐसा ऋषि का अनुभव है। उसी आपः तत्त्व में चेतना पुनः रूप ग्रहण करने लगती है।]

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ।
ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥

परमेश्वर द्वारा रचे गये वे (अग्नि आदि) देवता इस (पूर्व वर्णित विश्व नियामक) महासमर में आ गिरे। उन्हें उन परमात्मा ने क्षुधा-पिपासा से युक्त कर दिया, तब उन देवों ने परमेश्वर से याचना की कि हमारे लिए कोई आश्रय स्थल विनिर्मित कीजिए (शरीरों का निर्माण कीजिए), जिससे हम अपना-अपना आहार ग्रहण कर सकें ॥ १ ॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽ
यमलमिति ॥ २ ॥

(देवताओं द्वारा ऐसा कहने पर) ईश्वर ने उनके लिए गो शरीर का निर्माण किया। उन्होंने कहा- यह हमारे लिए पर्याप्त (उपयुक्त) नहीं है, तब ईश्वर ने अश्व शरीर बनाया। उसे देखकर वे बोले- यह भी हमारे लिए पर्याप्त नहीं है ॥ २ ॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम् । ता
अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

तब परमेश्वर ने उनके लिए मनुष्य शरीर की रचना करके उन्हें (देवताओं को) दिखाया, तब वे सभी देवगण बोले बस यह बहुत सुन्दर रचना है। सचमुच ही मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। परमेश्वर ने उन देवताओं से कहा-(इस मानव शरीर में) आप लोग अपने-अपने आयतन अर्थात् आश्रय स्थलों में प्रवेश करें ॥ ३ ॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी
प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं
प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा
शिश्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥

(परमात्मा की आज्ञा पाकर) अग्निदेव वाणी का रूप धारण कर मुख में प्रविष्ट हुए, वायुदेव प्राण बनकर नासिका के छिद्रों में प्रविष्ट हुए, सूर्यदेव चक्षु बनकर नेत्रों के गोलकों में प्रविष्ट हुए, दिशाएँ श्रोत्रेन्द्रिय बनकर कर्ण छिद्रों में प्रविष्ट हुई, वनस्पतियाँ रोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हुई, चन्द्रदेव मन बनकर हृदयक्षेत्र में प्रविष्ट हुए, मृत्युदेव अपान बनकर नाभि प्रदेश में प्रविष्ट हुए और आपः देवता वीर्य बनकर उपस्थ क्षेत्र में प्रविष्ट हुए ॥ ४ ॥

[यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि देवता विराट् पुरुष के जिन अंगों से जिस माध्यम से प्रकट हुए थे, उसी क्रम से उन्होंने मनुष्य के उन्हीं अंगों में स्थान बनाया।]

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति । ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

(तब) क्षुधा और पिपासा ने परमेश्वर से कहा- (आपने सब देवताओं को तो स्थान दे दिया) हमारे लिए भी आश्रय स्थल की व्यवस्था करें। परमेश्वर ने कहा- मैं तुम दोनों को इन देवताओं में ही भाग प्रदान करता हूँ। जिस किसी देवता को कोई आहार (हवि) प्रदान किया जायेगा। उसमें तुम दोनों का भी हिस्सा होगा, (तभी से इन्द्रियों द्वारा आहार ग्रहण करने पर भूख और प्यास को भी परितृप्ति मिलती है।) ॥ ५ ॥

[ऋषि स्पष्ट करते हैं कि भूख-प्यास का कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है, वे विभिन्न अंग-अवयवों में संव्याप्त देवशक्तियों के साथ संयुक्त हैं। शरीर विज्ञान के वर्तमान शोध-निष्कर्ष भी यही कहते हैं। भूख-प्यास शरीर के प्रत्येक कोश में होती है। जब तक पेट में अन्न-जल का भण्डार होता है, तब तक भूख-प्यास की अनुभूति नहीं होती। रोग की स्थिति में 'डिप' द्वारा जल एवं पोषण पहुँचाने से भूख-प्यास शान्त हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि भूख-प्यास प्रत्येक जीवित कोश के साथ संयुक्त है।]

॥ तृतीयः खण्डः ॥

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

इसके अनन्तर परमात्मा ने विचार किया कि समस्त लोकों और लोकपालों की सृष्टि तो सम्पन्न हो चुकी, अब इनके लिए अन्न की भी रचना करनी चाहिए ॥ १ ॥

सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत । या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥

फिर परमेश्वर ने अप् प्रवाह को अभितप्त किया। उस तपाये हुए (अमूर्त अप्) से जो मूर्त स्वरूप बना, वह मूर्त रूप ही वस्तुतः अन्न है ॥ २ ॥

[ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इस नयी सृष्टि में भी 'अप्' प्रवाह को ही तप्त अथवा परिपक्व किया गया।]

तदेतत्सृष्टं पराडन्त्यजिघांसत् तद्वाचा जिघृक्षत्तन्नाशक्रोद्धाचा ग्रहीतुम् । स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

उस सृष्ट (रचे हुए) अन्न ने उन (लोकपालों) की ओर से परे (पराङ्मुख होकर) भागने की चेष्टा की, तब उस पुरुष ने उसे (अन्न को) वाणी के द्वारा ग्रहण करना चाहा; किन्तु वह उसे वाणी द्वारा ग्रहण करने में असमर्थ रहा। यदि वह पूर्ण पुरुष अन्न को वाणी से ग्रहण कर लेता, तो अब (इस समय या इस युग में) भी मनुष्य वाणी से अन्न को बोलकर ही तृप्ति प्राप्त कर लिया करते ॥ ३ ॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्रोत्प्राणेन ग्रहीतुम् ।

स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥

इसके पश्चात् उसने अन्न को प्राण द्वारा पकड़ने की चेष्टा की, पर वह इसमें भी सफल न हो सका। यदि वह इसे प्राण से ग्रहण कर लेता, तो इस युग में भी पुरुष प्राण-प्रक्रिया से ही सूँघकर अन्न ग्रहण करके परितृप्त हो जाया करते ॥ ४ ॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत् तन्नाशक्रोच्चक्षुषा ग्रहीतुम् ।

स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

फिर उस पुरुष ने नेत्रों द्वारा अन्न ग्रहण करने अर्थात् देखकर ही अन्न की शक्ति ग्रहण करने की चेष्टा की; किन्तु ऐसा भी सम्भव न हो सका। यदि वह (पूर्ण पुरुष) उसे नेत्रों से ग्रहण कर सकता, तो अब भी मनुष्य अन्न को देखने मात्र से ही तृप्त हो जाया करते ॥ ५ ॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् तन्नाशक्रोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम् ।

स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥

तदुपरान्त उस पुरुष ने उस अन्न को श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने का प्रयत्न किया; किन्तु वह उसमें भी सफल न हो सका। यदि वह (पूर्ण पुरुष) उसे कानों द्वारा ग्रहण कर सका होता, तो अब भी लोग इसे कानों द्वारा ग्रहण कर सकते (अर्थात् अन्न के विषय में सुनकर ही तृप्त हो जाते) ॥ ६ ॥

तत्त्वचाजिघृक्षत् तन्नाशक्रोत्त्वचा ग्रहीतुम् ।

स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥

तब उस पुरुष ने इस (अन्न) को त्वचा द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा की; किन्तु उसे इसमें भी सफलता न मिली। यदि वह उस समय त्वचा द्वारा अन्न को पकड़ने अर्थात् ग्रहण करने में सफल हो गया होता, तो अब भी लोग इसे छू लेने मात्र से ही परितृप्त हो जाते ॥ ७ ॥

तन्मनसाजिघृक्षत् तन्नाशक्रोन्मनसा ग्रहीतुम् ।

स यद्धैनन्मनसाग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥

तदनन्तर उस पुरुष ने उसको मन द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा की; लेकिन उसे इसमें भी सफलता नहीं मिली। यदि वह इसको मन द्वारा ग्रहण कर पाता, तो अब भी मनुष्य अन्न के चिन्तन मात्र से तृप्ति अनुभव करते ॥ ८ ॥

तच्छिश्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्रोच्छिश्रेण ग्रहीतुम् ।

स यद्धैनच्छिश्रेणाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ९ ॥

इसके बाद उस पुरुष ने अन्न को शिश्न द्वारा ग्रहण करने का प्रयत्न किया; किन्तु इसके द्वारा भी वह उसे ग्रहण करने में समर्थ न हो सका। यदि वह उस समय उसे शिश्न द्वारा ग्रहण कर पाया होता, तो आज भी मनुष्य अन्न का विसर्जन करके ही तृप्त हो जाया करते ॥ ९ ॥

तदपानेनाजिघृक्षत् तदावयत् । सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥ १० ॥

उसके बाद उस (पुरुष) ने अपान वायु के द्वारा (मुँह से होकर) इसे (अन्न को) ग्रहण करने की चेष्टा की, अपान वायु के द्वारा उसने अन्न को ग्रहण कर लिया। अपान वायु ही अन्न को ग्रहण करने में समर्थ है। जो अन्न के द्वारा जीवन की रक्षा करने में समर्थ है, वह यही वायु है ॥ १० ॥

[शंकराचार्य जी ने अपान का अर्थ मुख छिद्र किया है। वाचस्पत्यम् में अपान को प्राण का धारक कहा गया है। आयुर्वेद में पाचन, मल उत्सर्जन आदि कर्म अपान द्वारा ही सम्पन्न होना माना गया है। अतः वही अन्न का धारक है। अन्न के माध्यम से आयुष्य बढ़ाने वाला यही वायु अत्रायु कहा जाता है।]

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति । स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्रेण विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ११ ॥

उस परमात्मा ने विचार किया कि यदि इस पुरुष ने वाणी से बोलने का प्रयोजन पूरा कर लिया, यदि प्राण (वायु) से सूँघ लिया, यदि नेत्रों से देख लिया, यदि कानों से सुन लिया, यदि त्वचा से स्पर्श कर लिया, यदि मन से सोच लिया, यदि अपान से आहार ग्रहण कर लिया और उपस्थ से विसर्जन कृत्य पूर्ण कर लिया, तो मैं (उसके लिए) कौन रहा? (मेरे बिना ये कैसे रह पायेगा?) मैं किधर से प्रविष्ट होऊँ? ॥ ११ ॥

[समस्त व्यवस्था बन जाने पर भी आत्मा के रूप में परमात्मा के अंश की स्थापना के बगैर व्यक्ति का अस्तित्व नहीं बनता। 'कोऽहम्' (फिर मैं कौन हूँ?) का उत्तर 'सोऽहम् इति' (मैं वही आत्म तत्त्व हूँ) यह तथ्य इस प्रकरण से सिद्ध होता है।]

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नानन्दनम् । तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

वह परमात्मा मानव शरीर की सीमा मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) को विदीर्ण करके (चौरकर) उसमें प्रविष्ट हो गया। विदीर्ण करके जाने के कारण इस द्वार को 'विदृति' नाम से जाना जाता है। यह विदृति नामक द्वार आनन्दप्रद अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला है। उस परमेश्वर के तीन आश्रयस्थल और तीन स्वप्न हैं। उसका यही आवास स्थल है। यही आवासस्थल है, यही आवासस्थल है ॥ १२ ॥

['यही वह स्थल है', यह बात तीन बार कही गयी है। बात पर बल देने के लिए 'त्रिवाचा' कहने की परम्परा है, अर्थात् यह देह निश्चित रूप से उस परमात्मा का आवास है। अन्य भाव यह है कि शरीर में तीन स्वचालित तंत्र, तीन ग्रंथियों में आत्मा का सीधा नियंत्रण कहा जा सकता है, वे हैं-मस्तिष्क में सहस्वार (रैटिकुलर एक्टिवेटिंग सिस्टम), हृदय (पेस मेकर) तथा नाभि ग्रंथि (पाचन-प्रजनन चक्र) अथवा शरीर, ब्रह्माण्ड और परम व्योम इन तीन स्थानों को उसके स्थान तथा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण स्वरूपों को अथवा सृजन, पालन, परिवर्तन को उसके तीन स्वप्न कहा जा सकता है।]

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति ।

स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती ३ ॥ १३ ॥

मानव शरीर में प्रकट उस पुरुष ने भूतों (सृष्टि) को चारों ओर से देखा और यह कहा कि मेरे अतिरिक्त यहाँ दूसरा कौन है? मैंने इसे भली-भाँति देखकर यह बोध प्राप्त कर लिया है कि यह परम पुरुष परब्रह्म ही है ॥ १३ ॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र ।

इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥

मानुष-देह में उत्पन्न हुए उस पुरुष ने परब्रह्म परमेश्वर का पूर्व वर्णित रीति से साक्षात्कार कर लिया; इसलिए उसका मैंने दर्शन कर लिया, इस व्युत्पत्ति के आधार पर ही उस का नाम इदन्द्र है। परन्तु लोग उसे 'इन्द्र' कहकर ही सम्बोधित करते हैं, क्योंकि देवगण परोक्ष प्रिय होते हैं, देवगण परोक्ष प्रिय होते हैं ॥ १४ ॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

पुरुषे ह त्वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः
संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥

सर्वप्रथम यह जीव पुरुष के शरीर में गर्भरूप से विराजमान रहता है । पुरुष के शरीर में स्थित जो वीर्य है, वह पुरुष के समस्त अङ्गों से समुत्पन्न तेज है । पहले पुरुष आत्मस्थ तेज को अपने ही अन्दर पोषित करता है, तदुपरान्त जब वह इस वीर्यरूप तेज का स्त्री में सिञ्चन करके गर्भरूप में स्थित रहता है, यह इसका (जीव का) प्रथम जन्म है ॥ १ ॥

[वर्तमान प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइन्स) भी वीर्य में गुण-सूत्रों (क्रोमोजोम्स) तथा जीन्स (जीवाणुओं) में व्यक्तित्व की सभी विशेषताओं का समावेश मानता है । पुरुष के गर्भ में पुरुष का परिपाक यह उपनिषद् की अपनी दृष्टि है । पदार्थ विज्ञान की अपनी सीमाएँ हैं, ऋषि उसमें चेतना का संकल्पयुक्त तंत्र देखते हैं ।]

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा तस्मादेनां न हिनस्ति ।
सास्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति ॥ २ ॥

जिस प्रकार स्त्री के अपने ही शरीर के अङ्ग होते हैं, उसी प्रकार पुरुष द्वारा सिञ्चित वह वीर्य भी स्त्री से तादात्म्य स्थापित कर लेता है । अस्तु, वह स्त्री को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाता । वह स्त्री अपने उदर में स्थापित पति के (वीर्यरूप) आत्मा का पोषण करती है ॥ २ ॥

[सृष्टि के आदि में विराट् पुरुष और प्रकृति संयोग जैसा ही यह संयोग होता है ।]

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रे
ऽधिभावयति । स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां
सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥

वह पालनकर्त्री स्त्री पालनीया (अपने पति द्वारा पालन करने योग्य) होती है । गर्भवती स्त्री प्रसव से पूर्व गर्भस्थ जीव का पालन करती है और वह पुरुष (पिता) प्रसवोपरान्त सर्वप्रथम (जातकर्म आदि संस्कार से) उस शिशु को सुसंस्कृत करता है । वह जन्मोपरान्त शिशु को इस प्रकार संस्कारित करके , उसकी उन्नति करके वास्तव में अपनी ही उन्नति करता है; क्योंकि इसी प्रकार लोक (चौदहों भुवन) प्रवृद्ध होते हैं । यही इस (जीव) का द्वितीय जन्म है ॥ ३ ॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते । अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो
वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥ ४ ॥

इस आत्मा (पिता) का यह पुत्रस्वरूप आत्मा पुण्यों के लिए (पिता के) प्रतिनिधि रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है । तदुपरान्त यह जीव (पितारूप) वयोवृद्ध होकर अपने लौकिक कर्तव्यों को पूरा करके इस लोक से प्रस्थान कर जाता है । इसके पश्चात् उसका पुनर्जन्म होता है । यह इस जीव का तृतीय जन्म है ॥ ४ ॥

तदुक्तमृषिणा- गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा । शतं मा पुर
आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥

यही बात ऋषि (वामदेव) ने इन शब्दों में कही है- मैंने गर्भ की स्थिति में ही (अन्तःकरण, इन्द्रियादि) देवताओं के जन्मों का रहस्य भली-भाँति जान लिया है। मैं सैकड़ों लौहयुक्त (लोहे की तरह कठोर) पिंजड़ों में आबद्ध था। अब मुझे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया है, अतः मैं बाज़ पक्षी के समान (उन पिंजड़ों को भेदकर) बाहर आ गया हूँ। इस प्रकार गर्भ में शयन करते हुए ऋषि वामदेव ने यह तथ्य प्रकट किया था ॥ ५ ॥

[पदार्थ विज्ञानी पदार्थों की प्रयोगशाला में प्रवेश करके प्रयोगों द्वारा अनुसंधान करते हैं। चेतना विज्ञान के विज्ञानी ऋषिगण चेतना की प्रयोगशालाओं में संकल्पपूर्वक प्रवेश करके अनुसंधान करते थे। वे परम व्योम तक अपनी चेतना ले जाकर वेद के रहस्य प्रकट कर सकते थे और प्रकृति के सूक्ष्म घटकों में प्रवेश करके उनकी विशेषताओं का साक्षात्कार कर लेते थे। ऋषि वामदेव ने अपनी आत्म चेतना को इसी अनुसंधान के लिए संकल्पपूर्वक गर्भरूप में स्थापित किया तथा पूर्ण जागरूक रहकर चेतना के रहस्यों का अध्ययन किया, यही बात यहाँ स्पष्ट की गयी है।]

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे
लोके सर्वान् कामानाप्वामृतः समभवत् समभवत् ॥ ६ ॥

वे ऋषि वामदेव यह ज्ञान (तत्त्वज्ञान) प्राप्त करके इस शरीर के विनष्ट होने के पश्चात् (इस लोक से) उत्क्रमण कर (ऊर्ध्वगमन कर) स्वर्ग में समस्त सुखों का उपभोग करते हुए अमृतत्व को प्राप्त हो गये (अमर हो गये) ॥ ६ ॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

जिस आत्मा की हम उपासना-अर्चना करते हैं, वह कौन है? जिसके द्वारा प्राणी देखता है, जिसके द्वारा श्रवण करता है, जिसके द्वारा गन्धों को सूँघता है, जिसके माध्यम से वाक् शक्ति का विश्लेषण करता है और जिसके द्वारा स्वादु-अस्वादु का ज्ञान प्राप्त करता है, वह आत्मा कौन सा है? ॥ १ ॥

यदेतत् हृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा
जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि
भवन्ति ॥ २ ॥

जो यह हृदय है, वही मन भी है। संज्ञान (सम्यक् ज्ञान), आज्ञान (आदेश देने की शक्ति), विज्ञान (विविध रूपों से जानने की शक्ति), प्रज्ञान (तुरन्त जान लेने की शक्ति), मेधा (धारणाशक्ति), दृष्टि, धृति (धैर्य), बुद्धि, मनीषा (मनन करने की शक्ति), जूति (वेग), स्मृति, संकल्पशक्ति, मनोरथ शक्ति, भोगशक्ति, प्राणशक्ति ये सभी शक्तियाँ परमात्म सत्ता की ही बोधक हैं ॥ २ ॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतीषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव। बीजानीतराणि चेताराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

यह (प्रज्ञान स्वरूप आत्मा ही) ब्रह्म, इन्द्र और प्रजा का अधिपति है। यही समस्त देवगण तथा पृथिवी, वायु, अग्नि, आकाश और जल - पञ्च महाभूत हैं। यही इतर प्राणी तथा उनके कारणरूप बीज और अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज प्राणी तथा गौ, अश्व, मनुष्य, पक्षी और हाथी सहित यह समस्त जड़-जङ्गम जगत् प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञान में ही समाहित हैं। उस प्रज्ञान में ही समस्त लोक आश्रित हैं, प्रज्ञा ही उनका विलय स्थल है। अस्तु, प्रज्ञान को ही ब्रह्म कहा गया है ॥ ३ ॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥ इत्योम् ॥ ४ ॥

जो परमेश्वर को इस प्रकार जान लेता है, वह इहलोक से ऊर्ध्वगमन कर स्वर्ग में जाकर समस्त दिव्य भोगों को प्राप्त करता है और अन्ततः वह ज्ञानी अमरपद को प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता.....इति शान्तिः ॥

॥ इति ऐतरेयोपनिषत्समाप्ता ॥

